



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2020; 6(9): 148-152  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
 Received: 19-07-2020  
 Accepted: 17-08-2020

## संजय कुमार

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,  
 ल०ना०मि० विश्वविद्यालय,  
 दरभंगा, बिहार, भारत

## समकालीन हिन्दी उपन्यास पर वैश्वीकरण का प्रभाव

संजय कुमार

### सारांश

21वीं सदी में भारतीय समाज एवं संस्कृति, साहित्य की दुनियाँ में पूरे बदलाव के साथ अवतरित होता है। जिसमें 1991 में शुरू हुए एल०पी०जी० (स्पइमतंसप्रंजपवदए च्त्पअंजप्रंजपवदए ळसवइंसप्रंजपवद) अर्थात् उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण वैश्वीकरण से पनपी बाजारवाद और उपभोक्तावाद इसके प्रमुख बिन्दु हैं, जिसने पूरी दुनियाँ को अपने बाजार के रूप में परिवर्तित कर दिया। विश्व की सर्वोच्च शक्ति 'सुपर पावर' अमेरिका अपने रूप में ढालकर सांस्कृतिक दृष्टि से अपना बनाने तथा आर्थिक-दृष्टि से अपने न्यस्त स्वार्थों की संपूर्ति के लिए पूरे विश्व को एक रंग में रंगने के संकल्प को कार्य रूप दे चुका है। पूरा विश्व अमेरिका द्वारा परिकल्पित 'मॉल संस्कृति' मात्र बनकर रह गया है। यह वैश्वीकरण एक प्रकार से पूरी दुनियाँ का अमेरिकीकरण ही है जो सारे राष्ट्रों की स्थानीय संस्कृति, जातीय चेतना को पूरी तरह लील कर अपने रंग में रंग डालने की बड़ी भारी सफल कूटनीति है, जिसके कारण पूरा विश्व उसकी चेपट में आ चुका है। एक प्रभंजन के प्रवेग से अमेरिकी अर्थनीतियों और तथाकथित भूमंडलीय संस्कृति चारों ओर अपना पाँव फैला चुकी है।

यह सर्वविदित भी है कि उपन्यास विधा अपने उद्भव से लेकर आज तक विकासवान विधा रही है। इसमें न सिर्फ अपने समय के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। बल्कि एकाधिक बार भविष्य का सटीक आकलन कर विद्वानों को अचंभित भी कर दिया है। आज वैश्विक आर्थिक विचारधारा का प्रभाव साहित्य पर हु-ब-हु पड़ता दिख रहा है आज बाजारवादी व्यवस्था से हर कोई त्रस्त है। सारी ख्वाहिशों को पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंग डालने की इच्छा प्रबल होती जा रही है। भाव, संवेदना, प्रेम का स्वर अब आम लोगों के जीवन से अलग होता जा रहा है, उसके स्थान पर अब केवल और पूँजी, पैसा, स्वार्थ ही प्रमुख हो गया है। मोबाइल, इंटरनेट ही अब मनुष्य की दुनियाँ बन चुकी है। जिसमें सारी रिश्ता, नाता, संवेदना, संस्कार सब-का-सब तार-तार हो रहा है। जिसे समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने अपनी लेखनी से मुखरता प्रदान की है। इन उपन्यासकारों में अलका सरावगी कृत 'एक ब्रेक के बाद', ममता कालिया कृत 'दौड़', प्रभा खेतान कृत 'पीली आँधी', प्रदीप सौरभ कृत 'मुन्नी मोबाइल', रविन्द्र वर्मा कृत 'दस बरस का भँवर' का नाम उल्लेखनीय है। इन उपन्यासकारों में वैश्वीकरण का प्रभाव समकालीन भारतीय समाज व हिन्दी साहित्य में जिस रूप में पड़ा है, उसे सशक्ता के साथ मजबूती दिया है।

### प्रस्तावना:

समकालीन अंग्रेजी शब्द कंटेप्रेरी का समानार्थ है, जिसका अर्थ है सम+काल, अर्थात् जो समय के सम या साथ-साथ हो, समकालीन का अर्थ ग्रहण किया जा सकता है जो समय के साथ हो। यह भी सत्य है कि प्रयोग के साथ शब्द नये अर्थ प्राप्त कर लेता है। समकालीन शब्द का संबंध विशेषण से है जबकि समकालीनता भाववाचक संज्ञा है। वर्तमान में समकालीन शब्द को को साहित्य की प्रायः सभी विधाओं के साथ प्रयुक्त किया जाता है। जैसे समकालीन उपन्यास, समकालीन कहानी, समकालीन नाटक, समकालीन काव्य आदि। 'समकालीन हिन्दी कहानी : यथार्थ के विविध आयाम' में डॉ० ज्ञानवती अरोड़ा ने लिखा है "समकालीन ही वह बिन्दु साहित्य जगत में है, जहाँ से साहित्यिक रचना अग्रसर होती है, क्योंकि समकालीन में परम्परा है, संस्कृति है, वह केवल 'आज' नहीं है आज बीते 'कल' से ही निर्मित होती है। 'आज' और 'कल' का जोड़ ही समकालीनता है।"<sup>(1)</sup>

आज के मूल अर्थ में ग्रहण करते बहुत कम लेखकों ने इसे आधुनिकता से अलग माना है। समसामयिकता कलेवर की चीज होती है। आधुनिकता समसामयिकता बिखराव और कलेवर गत उथल-पुथल की भीतर निरंतर चेतना को समझने का दृष्टिकोण है। इतना ही नहीं समकालीन शब्द का प्रयोग करते समय कला की धारणा पर विचार करना आवश्यक है। देश और काल का ज्ञान ही प्रसिद्ध कोटियाँ हैं और प्रत्येक दार्शनिक इस दार्शनिकता को अथवा गुरु की देशकाल संबंधी अवधारणाओं को स्वीकार करते थे लेकिन यह तत्ववाद आधुनिक साहित्य में उस रूप में नहीं मिलता। देश और काल यहाँ के साहित्य में अनुभूति के रूप में अवश्य मिलता है जो अनुभव के रूप में साहित्य में मौजूद रहता है देश काल में स्थित मनुष्य और उसकी दशाओं पर ध्यान केन्द्रित करने

### Corresponding Author:

संजय कुमार

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,  
 ल०ना०मि० विश्वविद्यालय,  
 दरभंगा, बिहार, भारत

का कार्य लेखकों ने ही अधिक किया है। इस दशा में प्रवाहित मानव के चित्रण का अर्थ है कि वह काल के किसी खंड में प्रवाहित हुआ है या हो रहा होगा। लेखक की पद्धति और मानव केन्द्रित होने से देश और काल से प्रभावित मानव के माध्यम से हमें देश और काल का भी ज्ञान होता है। उतना और किसी प्रकार से नहीं। कालिदास और बाणभट्ट के पास देशकाल ईश्वर आदि के संदर्भ में निश्चित विचार रहे हैं, लेकिन वे प्रभावित व्यक्ति के अवलोकन के क्षण में कभी बाधक नहीं बने। रघुवंश के एक कालक्रम में राजाओं का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। किन्तु वहाँ काल की धारणाओं, राजाओं-प्रजाजनों के विविध रूपांकन या चित्रण में विघ्न नहीं डालती।

कालिदास को हमारे समक्ष उस प्राचीन काल के मनुष्य, उसके काल और वातावरण का चित्र उपस्थित होता है जिसे आज भी सामने रखकर हम उस काल की विशिष्ट घटनाओं को अनुमानित कर सकते हैं। प्रायः आधुनिक लेखक देश और काल के विषय में किसी दर्शन विशेष या अवधारणा को लादकर नहीं चलते। वे देश और उसके समय काल के संदर्भ में मनुष्य को देखते हैं। साथ ही उसकी कार्यवाही मानसिकता और मान्यतादि को मध्य में रखकर परखते हुए नतीजे निकालते हैं। लेखक की दृष्टि से समकालीन शब्द यह बताता है कि काल के इस प्रचलित खण्ड या प्रवाह में मनुष्यों की वास्तविक स्थिति क्या है? मनुष्य की वास्तविक स्थिति देखकर या उसे अंकित, चित्रित करके ही हम समकालीनता की अवधारणा को समझ सकते हैं। शाश्वत काल इसी समकालीन रूप में साक्षात्कारित होता है। काल अनंत है जिसे दार्शनिक या साधक उसकी अमूर्ता और अनन्तता में पकड़ता है। लेकिन लेखक मानव जीवन और प्रवृत्ति को उसके रूप में ग्रहण करता है। जो किसी भी समय के वर्तमान अर्थात् काल विशेष में हो समकालीन कहलाता है। इस अर्थ की दृष्टि से पंत और अज्ञेय से लेकर आज के लेखक, कवि, सामान्य पूर्ति करने वाले और गजलगी कवि सम्मेलनी भी हमारे समकालीन कहे जा सकते हैं। समकालीन एक काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला कर उस काल की यथार्थवादी चेहरा को जनता के समक्ष रखता है।

उपन्यास विधा अपने उद्भव काल से लेकर आज तक विकासमान विधा रहा है। इसने न सिर्फ अपने समय के साथ तादात्म्य स्थापित किया है बल्कि एकाधिकार अपने भविष्य का सटीक आकलन कर विद्वानों को अचंभित भी कर दिया है। मनुष्य की वैश्विक होने की चाह कोई आज की नहीं है। भारतीय संस्कृति का तो विश्वास 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में युगों से रहा है। यह अलग बात है कि जब यहाँ के ऋषियों ने विश्व की कल्पना गाँव के निकट स्थित जंगल में बैठकर की थी, तब उन्हें भी यह नहीं पता था कि विश्व कितना है। वहीं बैठकर 'विश्वं ग्रामं पुष्टे अस्मिन्ने अनातुरम्' अर्थात् मेरे गाँव में परिपुष्ट विश्व का दर्शन हो, ऐसा उद्घोष किया।

भारत में सन् 1990 के बाद वैश्वीकरण की प्रक्रिया को अपनाया गया। सन् 1995 में विश्व व्यापार संगठन अस्तित्व में आया। वैश्वीकरण का दूसरा आशय अमेरिकीकरण से भी लगाया जाता है। समाजशास्त्री श्यामचरण दूबे ने लिखा है कि— "समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आंध्रियों कई दिशाओं से आ रही हैं—एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है तो दूसरी ओर परम्परा का आग्रह है, पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन शैली और मूल्य ला रही है, जिन्हें अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क अपना रहे हैं। इस अधानुकरण ने एक नई चिन्ता को जन्म दिया है। अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिविहीन भेड़ की गुमनामी में खो जाने की। हम इस प्रवृत्ति के असहाय दर्शक बनकर रह गए हैं।" (2)

इस वैश्विक आर्थिक विचारधारा का प्रभाव साहित्यकार पर पड़े बिना नहीं रहा। आज बाजारवाद से सभी त्रस्त है। आज बाजार

टेलीविजन, मोबाइल फोन के माध्यम से लोगों के घरों के बेडरूम तक पहुँच गया है। वैश्विक बाजार ने लोगों के खासकर आम जनों की आकांक्षाओं को इतने पंख लगा दिए हैं कि वह उन्हें किसी भी कीमत पर पाना चाहता है। इस पाने की चाहत में उसने सारे मानवीय मूल्य कहीं दफन कर दिए हैं। गरीब पहले भी हुआ करते थे, परन्तु विषमता नहीं थे। आपसी ईर्ष्या द्वेष नहीं था। आज अमीरी और गरीबी की खाई दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती चली जा रही है। एक ओर तो अमीरी पहाड़ खड़े हैं तो दूसरी ओर गरीबी का महासमुद्र हिलोरें मार रहा है। जिस युवा शक्ति पर हमें गर्व हो रहा है वह अपनी लालसाओं को पूरा करने में जुटा है। उसे न तो परिवार की चिन्ता है न सगे-संबंधियों का और न ही नाते-रिश्तेदारों की। इसके संबंधों को क्षणिक बनाने के साथ पैसे पर आधारित कर दिया है। आपका प्यार तभी दिखाई देगा, जब आप अपने चाहने वालों को कुछ न कुछ खरीदकर देंगे। हमारे पर्व-त्योहार, संस्कृति संबंध सभी कुछ बाजार के हवाले हो गए हैं। वैश्वीकरण के दुष्प्रभावों को लेकर समस्त देशों के संस्कृतिकर्मी साहित्यकार चिंतित हैं। इस बारे में ज्योतिष जोशी लिखते हैं, "उपन्यास अपने समय की नैतिकता से दूर नहीं हो सकता। उपन्यासकार अगर नैतिक समस्याओं से आँखें चुराता है तो मानना चाहिए कि वह अपने दायित्व से मुँह मोड़ रहा है।" (3)

वैश्वीकरण के श्याम पक्ष से साहित्यकारों ने अपनी आँखें नहीं चुराई है बल्कि वह समस्या की तह तक जाकर समाधानपरक उत्तर ढूँढ़ रहा है। "हिन्दी साहित्य के संदर्भ में देखें तो कविता तथा कथा-साहित्य में वैश्वीकरण का प्रभाव विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। नए से नया और पुराने से पुराने कवि भी आज भूमण्डलीकृत स्थितियों से विचलित हो उठे हैं और अपनी कविताओं में विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों आदि के माध्यम से चित्रित कर रहे हैं।" (4)

समकालीन हिन्दी उपन्यास ने बहुत सूक्ष्म संवेदन, गहराई और विस्तार में जाकर देश, समाज और व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कथात्मक धरातल पर किया है। भूमण्डलीकृत प्रभावों का कोई ऐसा पक्ष नहीं जो हिन्दी उपन्यास में चित्रित नहीं हुआ हो और उस चित्र का आशावादी उज्ज्वल पक्ष यह है कि वहाँ यथास्थिति का विरोध करनेवाले पात्रों और स्थितियों का सृजन कर उपन्यासकार ने अपनी सार्थक भूमिका सिद्ध की है। विगत 20-25 वर्षों में वैश्विक आर्थिक चेतना विविध रूपों में व्यक्त हुई है। देखा जाए तो भारत के लिए यह एक सांस्कृतिक संक्रमण का काल है, उपन्यासकारों ने इन वैश्विक प्रभावों का आकलन जिस रूप में किया है वह अपने आप में बेहद महत्त्वपूर्ण है। अलका सरावगी कृत 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास तो पूरी तरह भूमण्डलीय समस्याओं पर ही केन्द्रित है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में हमारे जीवन-मूल्य, जीवनाचार जितनी तीव्रता से पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में बदले हैं, उसके प्रति चारों ओर एक गहरा सरोकार है। "जमाना हर समय बदलता है, पर पिछले दस सालों में जमाना एक बार छलांग लगाकर जैसे सौ साल आगे निकल गया है।" इससे पीढ़ियों का अंतराल भी तेजी से बढ़ा है। उपन्यास के एक प्रौढ़ पात्र के.बी.की पीढ़ी अब अपने को जमाने की नब्ज-पकड़ने में अक्षम पा रही है। अब वही सफल हो सकता है जो जमाने के साथ चलकर रोज अपनी समाज को अपडेट तरोताजा रख पाता हो।

अलका सरावगी कृत उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' वैश्विक आर्थिक चेतना से युक्त उपन्यास है अलका जी ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए वर्तमान में उपयोग की जा रही शब्दावली को ही माध्यम बनाया है। उपन्यास का पात्र के.बी. एक सफल मैनेजर है। के.बी. शहर में सबसे ज्यादा पैसा पाने वाले "मार्केटिंग कन्सल्टेंट है।" (5)

साठ साल होने के बाद भी के.बी. में जिजीविषा बची हुई। वे अपने बारे में बताते हुए कहते हैं, "हम मार्केटिंग के आदमियों का

एक पाँव इधर, तो दूसरा पाँव नारद मुनि की तरह कहीं और रहता है। नारद मुनि की तरह हम कहीं टिकते नहीं हैं और उन्हीं की तरह थोड़ी-सी बात इधर की उधर और इधर तो हो ही जाती है।" जिन निजी कम्पनियों के पास अपने हवाई जहाज हैं उनके मालिक दूरदराज के द्वीपों पर छुट्टियाँ बिताने जाते हैं। उनके प्राइवेट शिप या थॉट होते हैं। उनके फार्म हाउस में उनके घोड़े पलते हैं और यह सब नहीं होता, तो इन सब चीजों के सपने होते हैं। जमाना ये दिल मांगे मोर का है। बस्तर के गाँव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टी.वी. पर वाशिंग मशीन पर कपड़े धुलते देख रहा है और डबर डोर फ्रिज में जाने कम से रखी ताजी लौकी और टमाटर की गाथा सुन रहा है। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ सपने देख रही है। फर्क यही है कि किसी के सपने छोटे होते तो किसी के ज्यादा बड़े सपने हैं।<sup>(6)</sup>

अलका सरावगी की पैनी नजर विश्व की आर्थिक व्यवस्था में हो रहे तेजी से बदलाव पर है। वे अपने उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में सन 2007 के साल की शुरुआत की ही ब्लूमवर्ग की रपट थी कि देश में मैं औद्योगिक उत्पादन आशा से कहीं ज्यादा हुआ है। बैंकों ने ब्याज पर धन देने का नया रिकॉर्ड बनाया है और तनखाओं के बढ़ने से देश में खरीददार बहुत बढ़ गए हैं। के.बी. खुश है कि चोरडिया के पास खुश होने के वजहें बढ़ती जा रही है। इंडिया के लोग दुनिया भर में फैक्ट्रीयों खरीदते हुए घूम रहे हैं, टाटा ने इंग्लैण्ड में स्टील फैक्टरी खरीद ली और बिड़ला ने अमेरिका में अल्युमिनियम के। के.बी. अपने अंदाज में हँसकर कहते हैं— "चीन का ड्रेगन 2007 में 9 प्रतिशत ऋणवृद्धि में बढ़ोत्तरी दिखाए तो क्या इंडिया का हाथी उससे एक सुता ऊपर 9.1 प्रतिशत वाला है।

इस समस्या पर विचार करते हुए अलका सरावगी ने 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में लिखा है, "यह एक मानी हुई वास्तविकता है कि सभ्यता के विकास में जो पूँजीवाद सोच से संचालित होती है, मनुष्य को एक व्यय से जोड़ने वाले समरसता के तमाम जरूरी मूल्य सिद्धान्त, मनोभाव, विचार सब हाशिये पर सरका दिए जाते हैं। उस पाँचवें शख्स ने आगे कहा— "मशीनों और सुख-सुविधाओं के लिए आविष्कृत संवेदन शून्य उपकरणों की संगत में इन्सान के लिए एकमात्र सचेतता व सक्रियता उपयोगी और अनुपयोगी का स्वीकार अस्वीकार हो गया है। जो कम्पनी काम की चीज थी अब काम की न रहकर फालतू हो गई है। इसे निकालो इसे हटाओ। मतलब इस पूँजीवादी युग में केवल पूँजी ही प्रधान है पूँजी नहीं तो सम्मान नहीं।"

वैश्वीकरण ने भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर तीव्र हमले कर उसे मूल्यविहीन कर दिया है। पहले घर में बड़े-बुजुर्गों को ही गर्व की निशानी माना जाता था, अब उन्हें फालतू की चीज माना जाता है। उन्हें अनुत्पादक मानकर उपेक्षा की जाने लगी है। इसलिए पूने जैसे महानगर में ऐसी जिंदगी भोगते माता-पिताओं ने छप्पण अभिभावकों की एक संस्था ही बना डाली है। जिसमें वे अपने सुख-दुःख बाँटते हैं। कुछ माता-पिता अपने बेटे-बेटियों की ओर से निराश हो वृद्धाश्रम की ओर प्रस्थान कर जाते हैं भारतीयों के इस प्रकार की रवैये ने हमारी सामाजिक संरचना के ताने-बाने को विखेरकर रख दिया है। वैश्वीकरण से ओत-प्रोत ममता कालिया का बेहद चर्चित उपन्यास 'दौड़' काफी महत्वपूर्ण है। जो वर्तमान समय से मुढभेड़ करता दिखाई देता है। जबतक भारत ने वैश्वीकरण में प्रवेश नहीं किया था, तब तक लोग-एक-दूसरे के प्रति धन्यवाद सेवा का भाव रखते थे। दूर-दराज के शहर में आने वालों के साथ अजनबीपन से व्यवहार नहीं किया जाता था। वैश्विक आर्थिक चेतना ने सारी मानवीय संबंधों को तिलांजलि दे दी है और सिर्फ एक ही संबंध रह गया है पैसे का। अब व्यक्तिगत हैसियत देखकर मोलभाव किया जाता है। उपन्यास में इस पर विचार करते हुए लिखा है— "मैं कहता हूँ यह एकदम व्यापारी शहर हैं, सौ प्रतिशत। मैं

चालीस घंटे के सफर के बाद यहाँ उतरा 'एक श्री व्हीलर' वाले से पूछा पण्डित चलोगे? किदर बोलने से उसने पूछा। मैंने कहा भाई वस्त्रापुर में जहाँ मैंनेजरी की पढ़ाई होती है, उस जगह जाना है तो जानते हो साला क्या बोला, 'टू हण्ड्रेड लगेगा' मैंने कहा तुम्हारा दिमाग तो ठीक है। उसने कहा साब आप उदर से पढ़कर बीस हजार की नोकरी पाओगे, मेरे को टू हण्ड्रेड देना आपको ज्यादा लगता है क्या?"<sup>(7)</sup>

भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप लोगों की रोजमर्रा की जिंदगी इस कदर बदल गई है कि वह चाहकर भी इसे बच नहीं सकता। अब हर चीज बारहों महीने मिलती है। किसी जमाने में जो सब्जी-तरकारी मौसमी हुआ करती थी। अब उसे आप किसी भी मौल अथवा मंडी में जाकर कभी भी खरीद सकते हैं। शर्त यही है कि उसके लिए आपको अपनी जेब ढीली करनी पड़ेगी। अब लोग इस सब में ढल चुके हैं। इसे फैशन भी मान लिया गया है। गरीब सब्जीवालों के यहाँ मोलभाव करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। ममता कालिया ने इस स्थिति पर तंज कसते हुए लिखा है— "यही हाल तरकारियों का है। हर कालोनी के गेट पर सुबह तीन-चार घंटे एक ऊँचा-ढेला वाला तरकारियों से सजा खड़ा रहेगा। वह घर-घर घूमकर आवाज नहीं लगाता। स्त्रियाँ उसके पास जाएंगी और खरीददारी करेगी। उसके ठेले पर खास और आम तरकारियाँ का अम्बार लगा हुआ है हरी शिमला मिर्च तो लाल और पीली भी। गोभी है तो ब्रोकली भी। सलाद की शकल का थाई कैवेज भी दिखाई दे जाता है। खास तरकारियों में किसी की भी कीमत डेढ़ दो सौ देखने पर प्लास्टिक की गेंद लगते हैं। ये टमाटर क्यारी में नहीं प्रयोगशाला में उगाए गए लगते हैं। कीमत दस रुपये पाव टमाटर का आकार इतना बड़ा है कि एक पाव में एक टमाटर ही चढ़ सकता है। दस रुपये का एक टमाटर। हे! भगवान क्या टमाटर भी छप्पण हो गया? शिकागो में एक डॉलर का एक टमाटर मिलता है। भारत में टमाटर उसी दिशा में बढ़ रहा है। तरकारियाँ विश्व बाजार की जिंस बनती जा रही है। इनका भूमण्डलीकरण हो रहा है। पवन को याद आता है उसके शहर में घूरे पर भी टमाटर उग जाता था। किसी ने पका टमाटर कुड़े करकट के ढेर पर फेंक दिया। वहीं पौधा लहलहा उठा। दो माह बीतते में फल लग जाते हैं।"<sup>(8)</sup>

औद्योगिकरण की आँधी में भारत में गाँवों की पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई है। वर्ल्ड बैंक की योजना यही है कि भारत में गाँवों से ज्यादा शहरों की ओर पलायन हो। हमारी सारी नीतियाँ गाँव सबसे आखिरी में हैं। अब गाँव में बूढ़े, बेकार, बच्चे, बेवा और विकलांग ज्यादा दिखाई देते हैं। सारी अर्थव्यवस्था शहरों के इर्द-गिर्द घूम रही है। शहर आर्थिक केन्द्र बन गई है। लोग मजबूर होकर गाँव से उखड़े रहे हैं। वे शहरों में भी रहना नहीं चाहते, लेकिन क्या करें, इसके बिना उनके पास कोई चारा भी नहीं है। प्रभा खेतान 'पीली आंधी' उपन्यास में इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखती हैं, "क्यों भइया कलकत्ता घूमने आए हो या व्यापार करने या रहने?

व्यापार करने, किशन का सपाट उत्तर था। तब ठीक है। रुपया कमा लोगे लेकिन यहाँ कभी रहना नहीं। यह दोजख है दोजख। बड़ा बाजार में रहना भी कोई रहना है। एक-एक कमरे में चार-चार, छः-छः। लोग बिटवा का ब्याह करेंगे तो उसी में पर्दा तानकर अलग कमरा बना लेंगे। सुबह पखाने के लिए लोटा लिए लाइन में खड़े हो। सड़ांध और बदबू... आक् थे.....कहते हुए उसके ठीक किशन के बगल में थूक दिया। हरे राम.....हरे राम। यहाँ खुली हवा के लिए तरस जाते हैं। गाँव में थे तो माना कि गरीब थे मगर।"

तब भाई हलवाई जी आप यहाँ क्यों आए?

"पेट के लिए यह पापी पेट जो न कराए सो अच्छा है। अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए उसने कहा।"<sup>(9)</sup>

वैश्वीकरण में प्रवेश के बाद इस देश में पूँजी का प्रवाह बहुत बढ़ गया है। घरेलू वस्तुओं का दाम अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य तय कर रहे हैं। डॉलर के मुकाबले में रुपया हमेशा से कमजोर रहा है। अब करोड़ों के भ्रष्टाचार की बात सामान्य हो गई है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है उत्तम खेती, मध्यम व्यापार निकृष्ट चाकरी, भीख, निदान, ईमानदारी और व्यापार अब बीते जमाने की बात हो गई है। किसी का किसी पर विश्वास नहीं रहा है। व्यापारी की दो जबानें हो गई हैं। किसी के साथ व्यापार करने की पहली शर्त टेढ़ा-बांका होना हो गई है। सीधापन किसी के व्यक्तित्व की कमजोरी माने जाना लगा है। तभी तो 'पीली आँधी' उपन्यास में प्रभा खेतान लिखती हैं, "साहब कह रहे थे, तुम मारवाड़ी, बनिऐं हमें लूट रहे हो। मैंने बस इतना कहा—सर यह लूटना तो हमने अंग्रेजों से सीखा है। हमको व्यापार करना कहाँ आता था। कभी राजस्थान गये हैं? भूख और गरीबी देखी है? मेरा डुंगर गढ़ में साल में एक फसल होती है, ज्वार बाजारा, ज्वार की और वह भी बारिश हुई तो फसल होगी, नहीं तो अकाल। महामारी और भूख है। नंगी जलती हुई भूख। हम राजस्थानी स्वभाव से बहुत भावुक और सीधे होते हैं। जबान के पक्के। यह तो आपके बनाए टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर चलने के लिए टेढ़ी-मेढ़ी चाल सीखनी पड़ी है।"<sup>(10)</sup>

वैश्वीकरण की आर्थिकता ने जहाँ समाज के एक वर्ग को भले ही उसका प्रतिशत अत्यन्त न्यून हो, कुछ ही वर्षों में एक अकल्पनीय समृद्धि दे डाली है और उसे बाजारवाद— उपभोक्तावाद का परिचालक कारक और नियंता बना दिया तो दूसरी ओर जो गरीब था, गरीबी की रेखा से नीचे जिंदगी खचेड़ रहा था, उसे और भी गरीब बना डाला। गरीबी—अमीरी के बीच असमानता की एक दुर्लभ खाई ने समान को सीधे-सीधे दो वर्गों में बाँटकर रख दिया इस रूप में कि वह खाई दिनों दिन और चौड़ी होती जा रही है। हिन्दी उपन्यासकार ने भूमण्डलीकरण के इस श्याम पक्ष पर गहरी चिन्ता से विभिन्न रूपों में विचार किया है। ..... विकास पथ पर बढ़ते इंडिया में गरीब आदमी अमीरों के लिए हर सुविधा जुटाने के लिए मर खप रहा है।

आज पैसा भगवान बन बैठा है, ऐसा नहीं है कि आज के पहले भारत में पैसा नहीं था पर वह प्रदर्शन की वस्तु नहीं था। एक तरह से धनवान पैसे का उपयोग अपनी जरूरत के हिसाब से करते थे। उन्हें इस बात की जानकारी थी कि शान-शौकत और अच्छे जीवन में क्या फर्क है। वे यह भी जानते थे कि जीवन में असंतोष को भड़काने में पैसा महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि समाज में गैर बराबरी दिखाई देगी, तो अशांति फैलेगी लेकिन जब हमने वैश्वीकरण में प्रवेश किया तो उसका सारा आधार ही प्रदर्शनियता पर टिक गया। लोगों के दिलों में दबी लालसाओं को इतना उकसा दिया कि पैसे के बिना जीवन बेईमानी लगने लगा। आज की दुनियाँ बाजारवादी संस्कृति के रंग-रंग में पूर्णतः ढल चुकी है। आज शहर भी पहले जैसे शहर नहीं रह गए हैं। वे वैश्विक आर्थिक विचारधारा के चंगुल में फँस गए हैं। जैसे किसी तालाब अथवा समुद्र में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियाँ को खा जाती हैं, वैसे ही बड़े दुकानदारों ने इस देश में आकर छोटे दुकानदारों को समाप्त कर दिया है। एक अध्ययन बताता है कि जिस स्थान पर मॉल खुलता है वहाँ के करीब तीन हजार दुकानदार उससे प्रभावित होते हैं।

आज हमारे देश के लिए यह कैसी विडम्बना है कि भारत जैसे देश में जनता भूखे पेट सोती है, वहीं दूसरी ओर पश्चिमी जगत में एक्सपाइरी डेट के नाम पर भोजन फेंक दिया जाता है। प्रदीप सौरभ ने अपने उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' में इस पर चोट की है। उपन्यास के पात्र जोगिन्दर सिंह ने कहा— "इंग्लैंड में एक्सपाइरी का चक्कर जबरदस्त है। हर स्टोर से हर दिन एक्सपायर हुई, खाने-पीने की चीज फेंकी जाती है। यही हमारा भोजन बनती है। एक्सपाइरी खाना अंग्रेजों के लिए खराब होता होगा, लेकिन हमारा डायजेस्टिव सिस्टम इसके लिए पूरी तरह ठीक है। इंडिया

में भी तो हम एक्सपाइरी चीजें ही खा रहे हैं।"<sup>(11)</sup>

वैश्वीकरण के दौर में प्रवेश करने के बाद दुनिया में एक और चीज तेजी से फैली वह है 'प्लास्टिक मनी'। अब अपने साथ रूपये लेकर चलने के दिन लद गए। अब तो क्रेडिट कार्ड्स का जमाना है। इसके एक ओर व्यक्ति के जीवन को सुविधायुक्त बनाया है तो दूसरी ओर बिना पैसे के मौजमस्ती की लत भी पैदा कर दी है। यदि आपके पास मौज-शौक के लिए पैसा नहीं है तो चिंत करने की कोई बात नहीं है आप 'क्रेडिट कार्ड' का इस्तेमाल कर अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। क्रेडिट कार्ड ने आज संयम की परिभाषा ही बदल दी। बाजारवादी सोच ने संयम को दमन के रूप में प्रचारित किया। आज हर कोई शून्य बाजार दर के मोहक मायाजाल में लोगों को भरमाना चाहा है। वह आज के आदमी को उपभोग के लिए उकसाता है। प्रदीप सौरभ ने 'क्रेडिट कार्ड' पर चुटकी लेते हुए लिखा है— "एक अमेरिकन के पास औसतन पन्द्रह 'क्रेडिट कार्ड' होते हैं। उनके या किसी बुजुर्ग की मौत पर विरासत में परिवार वालों को 'क्रेडिट कार्ड्स' और दूसरे लोग के बिल मिलते हैं। भारत में ऐसी स्थिति में परिवार वालों को मकान सोना-चौदी और भी बहुत कुछ मिलता है। भारत में ऐसा दर्शन भी है कि उधार लेकर भी पीओ।"<sup>(12)</sup>

प्रदीप सौरभ ने अपने उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' में अमेरिकी और भारतीय विचारधारा की तुलना की है। भारत को प्राचीन काल से संयमपूर्ण जीवन बिताने की आदत नहीं है। भोगवादी संस्कृति का असर अभी दिखाई दे रहा है, परन्तु इसकी भीतरी शक्ति तो इसके गाँवों में बसी है। बाजारवाद ने शहरों को ही अपने मकड़जाल में पकड़ रखा है। यहाँ का ग्रामीण समुदाय आज भी जरूरत की वस्तुओं को ही प्राथमिकता दे रहा है। यद्यपि वहाँ तक वैश्विक आर्थिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा है। उसके द्वारा खेतों में लगायी जाने वाली फसल का मूल्य अब अन्तर्राष्ट्रीय बाजार तय कर रहे हैं। भारत में अर्थ को एक पुरुषार्थ माना गया है। व्यक्ति को अपनी सारी आवश्यकता अपने पुरुषार्थ से पूर्ण करना चाहिए। इसलिए इसे आध्यात्मिक दर्जा प्राप्त हो गया है। आजीविका के साधन शुद्ध होने पर ही व्यक्ति अपने जीवन में आन्तरिक विकास कर पाता है। वैश्वीकरण में प्रवेश के बाद दुनियाँ के अनेक विचारकों ने भारत की अर्थव्यवस्था टिके रहने पर संदेह जाहिर किया था। जब भारत का भुगतान संतुलन गड़बड़ाया था तब उसे अपना सोना गिरवी रखना पड़ा था। इससे देश की जनता को धक्का अवश्य लगा, लेकिन वह इससे शीघ्र ही ऊबर गया। इसे ही इंगित करते हुए प्रदीप सौरभ ने लिखा है— "अपनी दार्शनिक और आध्यात्मिकता के दम पर ही भारत दुनियाँ की सबसे तेज बढ़नेवाली अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। चीन के बाद उसका ही नम्बर आता है। बेशक चीन नम्बर एक है, लेकिन उसके माल की केडिबिलेटी दुनिया में जापानियों की तरह नहीं है। भारत के सामान की छाप है।"<sup>(13)</sup>

आज हम सब समय के जिस दौर से गुजर रहे हैं वह तीव्र भूमण्डलीकरण का दौर है जो हमारी दिनचर्या एवं वैचारिक संसार में एक अभूतपूर्व परिवर्तन लेकर आया है। अमेरिकी विदेश मंत्री हेनरी किर्सीजर ने 1966 ई० में "वाशिंगटन पोस्ट" समाचार-पत्र के अपने एक लेख में भूमण्डलीकरण के संबंध में कहा था कि कुछ ही समय में अमेरिकी संस्कृति और विकास मॉडल का वर्चस्व पूरे विश्व में फैल जाएगा। समय ने इसे सच कर दिखाया और प्रख्यात समाजशास्त्री प्रो० श्यामचरण दूबे के अनुसार हम इस प्रवृत्ति के असहाय दर्शक मात्र बनकर रह गए। वस्तुतः भूमण्डलीकरण आज एक ऐसा सच है। जिससे जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं है और हमारे समय का हर विचारक, चिंतक, कलाकर्मी, संस्कृतिकर्मी, रचनाकार इससे अपने-अपने तरीके से टकरा रहे हैं। 1990-91 में चली यह प्रक्रिया मूल रूप से एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में प्रारंभ हुआ। भूमण्डलीकरण अपने प्रभाव में व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है और परिणामतः इसने पूरे विश्व के आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक

ढाँचे को परिवर्तित कर दिया है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में नई आर्थिक नीति, खुले बाजार की अवधारणा, सार्वजनिक संस्थानों का निजी संस्थानों में रूपान्तरण, मल्टी नेशनल कम्पनियों का बढ़ता प्रभुत्व, प्रौद्योगिकी और तकनीक की विस्फोटक प्रगति, कम्प्यूटर और मोबाइल का तीव्र विकास, प्रबन्धन और वितरण की नई पद्धतियाँ, विज्ञानों का मायावी संसार और परिणामतः बाजारवाद और उपभोक्तावाद के अन्तहीन प्रसार ने हमारे अन्तःबाह्य जीवन को पूरी तरह बदलकर रख दिया है।

भूमण्डलीकरण ने मध्यवर्ग के व्यक्ति के जीवन से निजी समय का अपहरण कर लिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनी में कार्यरत व्यक्ति के पास न तो अपने समाज के लिए न अपने परिवार के लिए और न ही अपने लिए समय है। उसकी व्यस्तता ऐसी है कि वह सोचने-विचारने के काबिल ही नहीं रह पाता। वस्तुतः बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एकमात्र उद्देश्य किसी भी प्रकार से लाभ कमाना है। वह अपने बड़े अधिकारियों से लेकर छोटे अधिकारियों के सामने बिक्री-लक्ष्य रखती है जिसे किसी भी तरह प्राप्त करनी है। उसे सफल कर्मचारी की कोटि में रखने का पैमाना होता है और प्रोन्नति को भी संभव बनाता है। वह कर्मचारी को निरंतर तनाव में रखता है। उपन्यासकार स्वयं प्रकाश जी अपने उपन्यासकार 'ईधन' में इस स्थिति का सुन्दर अंकन करते हैं— "उनमें से हरेक बेहद स्मार्ट, वाक्यपटु और कुशल हिसाबी था, लेकिन वे हर समय तनाव में रहते थे। उनसे कहा भी यही जाता था कि तुम्हें हर समय तनाव में रहना चाहिए। ऑलवेज ऑन योर टोज। उन्हें दिये गये टारगेट उनकी नींद हराम किये रहते। जो टारगेट पूरा कर लेता उसे सवायें किये रहते। जो टारगेट पकड़ा दिये जाते और जो नहीं कर पाता उसे बुरी तरह झिड़का जाता और जलील किया जाता। विक्रय अधिकारी हर सुबह अपनी कल के काम की रिपोर्ट कॉरपोरेट ऑफिस को यानी हमें भेजते। हमारे यहाँ से हर शाम वह रिपोर्ट सीधी अमरीका भेजी जाती थी। टारगेट वहाँ से आते थे। एप्रिसिएशन भी वहीं से और पीठ पर लात भी वहीं से दर्शक सीईओ की मार्फत।"

शहरी आर्थिक चेतना ने मानवीय संबंधों को बहुत हानि पहुँचायी है। अब सारे रिश्ते पैसों पर आकर समाप्त हो जाते हैं। यहाँ तक की माता-पिता की सेवा भी पैसों से होने लगी है। सच्चाई यह है कि उन्हें अपने बेटों से हमदर्दी की अपेक्षा रहती है। उपन्यासकार रवीन्द्र वर्मा अपने उपन्यास 'दस बरस के भँवर' में इस प्रश्न पर विचार करते हैं और लिखते हैं— "यह सच है कि बाँके बिहारी दस बरस इसी झिलमिल भरोसे में रहे कि छोटे को उसके तीनों बड़े भाई संभाल लेंगे। भैया अमरीका में था। उसने लिखा था कि पापा मैं छोटे को यहाँ बुला तो नहीं सकता, मगर इलाज के लिए डॉलर भेज सकता हूँ। डॉलर से क्या नहीं हो सकता, पापा? भैया बाँकेलाल बुदबुदाए, डॉलर से नीम-पागर और घर के नौकर ही बनेंगे। डॉलर नहीं लूँगा, बाँके बिहारी ने सोचा। नीम-पागल या घर के नौकर के लिए डॉलर दान ही दुआ न! दान नहीं लूँगा।" (14)

एक समय था जब स्वामी विवेकानन्द ने मैसूर के राजा को लिखे पत्र में कहा था कि अमेरिका में सर्वशक्तिमान डॉलर सब कुछ कर सकता है। आज वही स्थिति भारत को हो रही है। आज देश में अमेरिका से डॉलर बरस रहे हैं। इसके दुष्परिणाम भी दिखाई दे रहे हैं। अमेरिका में बैठकर अपनी भारतीय संस्कृति की रक्षा करने का स्वप्न संजोये हुए हैं। आज देश का हर युवा अमेरिका जाना चाहता है। कुछ दिनों पहले युवाओं के बीच सर्वे किया गया था, जिसमें युवाओं से प्रश्न किया गया था कि उन्हें मौका मिले तो वे अमेरिका जाना चाहेंगे? उनमें से साठ प्रतिशत युवाओं का जवाब हाँ में था। रवीन्द्र वर्मा ने इसी को रेखांकित करते हुए अपने उपन्यास में लिखा है— "भैया, नमन ने पूछा, 'क्या तुम्हारा अमरीका जाने का फैसला पक्का है?' हाँ दादा उसने आँखें ऊपर उठाई, बात सिर्फ अमरीका की नहीं है। असली बात काम और

कमाई की है। कोई मुकाबला नहीं है। .....अब दुनिया एक है, दादा मदन ने ऊपर की छत की ओर देखा, यह भूमण्डलीकरण का जमाना है।" (15)

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भारत की अर्थव्यवस्था ने जब से वैश्विक दौर में प्रवेश किया है, तब से लेकर आज तक एक विचित्र प्रकार की विषमता समाज में पैदा हो गई है। एक तरफ समृद्धि के ऊँचे पहाड़ दिखाई दे रहे हैं तो दूसरी तरफ गरीबी की खाईयाँ भी बढ़ गई है। भारत के धनाढ्यों के नाम विश्व के अमीरों की सूची में आ रहे हैं। आज चारों ओर ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया गया है कि व्यक्ति 'कुछ' पाने की जिद्द में सर्वस्व लूटा रहा है। वह कुछ और के पीछे इस कदर डूब गया है कि उसने समस्त मूल्यों को तिलांजलि दे दी है। बाजारवादी संस्कृति ने पैसे के महत्त्व को बढ़ा दिया है। भारतीय संस्कृति के पर्व-त्योहारों को बाजार ने अपने कब्जे में कर लिया है और वह लोगों की भावनाओं को भरपूर दोहन कर रहा है। आज सारे संबंधों की रक्षा का भार पैसे पर आ गया है। पति-पत्नी का रिश्ता तभी तक कायम रह सकता है जब दोनों एक-दूसरे को चीजें खरीदकर उपहार में दें। भाई-बहन का प्यार तभी जाहिर होगा जब महँगी वस्तु उपहार में दी जाएगी। कोई त्योहार तभी ठीक ढंग से मनाया जा सकता है जब तक आप बाजार से कोई वस्तु खरीद कर न ले आएँ। एक अजीब किस्म की बेचैनी और तड़प पैदा कर दी है आज की इस संस्कृति ने। हिन्दी उपन्यासकारों ने अपनी लेखनी से ऐसे ही सच को बखूबी उजागर किया है। यह सब कुछ उस समाज में घटित हो रहा है, जिसकी नींव त्याग तपस्या पर रखी गई थी। उपभोगवादी संस्कृति ने भारतीय समाज व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। इसे बचाने का कोई उपाय नजर नहीं आ रहा है।

#### संदर्भ-संकेत :

1. 'समकालीन हिन्दी कहानी: यथार्थ के विविध आयाम', डॉ० ज्ञानवती अरोड़ा, पृ०-3
2. 'समय और संस्कृति', श्यामचरण दूबे, पृ०- 131
3. 'उपन्यास की समकालीनता', ज्योति जोशी, पृ०- 15
4. 'भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास', पुष्पपाल सिंह, पृ०- 73
5. 'एक ब्रेक के बाद', अलका सरावगी, पृ०- 8
6. 'एक ब्रेक के बाद', अलका सरावगी, पृ०- 11
7. 'दौड़', ममता कालिया, पृ०- 14
8. 'दौड़', ममता कालिया, पृ०- 17-18
9. 'पीली आँधी', प्रभा खेतान, पृ०- 34
10. 'पीली आँधी', प्रभा खेतान, पृ०- 290-91
11. 'मुन्नी मोबाईल', प्रदीप सौरभ, पृ०- 102
12. 'मुन्नी मोबाईल', प्रदीप सौरभ, पृ०- 104
13. 'मुन्नी मोबाईल', प्रदीप सौरभ, पृ०- 104
14. 'दस बरस का भँवर', रवीन्द्र वर्मा, पृ०- 12
15. वही, पृ०- 63